अध्याय **1**

अठारहवीं सदी का संक्रमण

1.1 मुगल साम्राज्य का पतन

मुगल साम्राज्य, जिसे जहीरुद्दीन बाबर ने 1526 में स्थापित किया था और जिसे सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बादशाह अकबर ने उसके शानो-शौकत की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था, अपने आखिरी महान बादशाह औरंगज़ेब (1658-1707) के शासनकाल के बाद तेज़ी से पतन की ओर बढ़ने लगा। सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक उसकी राजधानी दिल्ली पूरे पूर्वी गोलार्द्ध (hemisphere) का एक प्रमुख सत्ता-केंद्र मानी जाती थी, लेकिन आधी सदी के अंदर इस शक्तिशाली साम्राज्य के पतन के चिह्न असंदिग्ध रूप से दिखाई देने लगे। कुछ इतिहासकार इस पतन के लिए औरंगज़ेब की विभाजनकारी नीतियों को दोषी ठहराते हैं, खास तौर पर दोष उसकी धार्मिक नीतियों को दिया जाता है जिन्होंने हिंदुओं को, जो आवादी का बहुमत थे, विमुख कर दिया। दक्षिणी भारत में दो स्वतंत्र राज्यों बीजापुर और गोलकुंडा के खिलाफ़ और मराठों के खिलाफ़ उसके (औरंगज़ेब के) प्रसारवादी फ़ौजी अभियानों ने भी माना जाता है कि साम्राज्य की जीवन-शक्ति को चूस लिया। पर कुछ अन्य इतिहासकारों का विश्वास है कि मुगल साम्राज्य के पतन की जड़ें व्यक्तियों या विशेष नीतियों की बजाय मुगल प्रशासन की बुनियादी संस्थाओं और व्यवस्थाओं में थीं।

फिर भी, इस बात को लेकर कम विवाद है कि पतन की प्रक्रिया औरंगज़ेब के काल में ही शुरू हुई और उसके कमज़ोर उत्तराधिकारी इसे नहीं रोक सके। उत्तराधिकार के लिए बार-बार होने वाली लड़ाइयों ने स्थिति को और बदतर बनाया। कथित रूप से योग्य कमानदारों की अफ़सोसनाक कमी के कारण मुगल सेना कमज़ोर हुई; कोई फ़ौजी सुधार नहीं हुआ, न कोई नई तकनोलॉजी (प्रौद्योगिकी) ही आई। मुगल सैन्यबल के यूँ कमज़ोर पड़ने के कारण अंदरूनी बगावतों को बढ़ावा और विदेशी हमलों को न्योता मिला। शिवाजी के नेतृत्व में मराठे बार-बार औरंगज़ेब के शासन को ललकारने लगे। उसके मरने के बाद मराठों की लूट-मार बढ़ गई; 1738 में उन्होंने दिल्ली के उपनगरों तक को लूटा। उसके बाद 1738-39 में हुआ नादिरशाह

के नेतृत्व में फ़ारसी हमला और दिल्ली की तबाही, जो साम्राज्य की इज़्ज़त पर भयानक चोट थी। थोड़े समय के लिए स्थिति सुधरी और 1748 में हुए पहले अफ़गान हमले को नाकाम कर दिया गया। लेकिन अहमद शाह अब्दाली के नेतृत्व में अफ़गानों ने फिर चोट की, पंजाब को हथिया लिया और 1756-57 में दिल्ली को तबाह किया। अफ़गानों को पीछे धकेलने के लिए मुगलों ने मराठों से मदद माँगी पर 1761 में पानीपत की लड़ाई में अब्दाली ने मराठों को भी मात दी। अफ़गान खतरा बहुत दिनों तक जारी नहीं रहा, क्योंकि सेना में एक बगावत ने अब्दाली को वापस अफ़गानिस्तान जाने पर मजबूर कर दिया। लेकिन उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति निश्चित ही मुगल साम्राज्य की शानो-शौकत के दिन जाने का पता दे रही थी।

सर यदुनाथ सरकार (1932-50) जैसे आरंभिक इतिहासकारों का विश्वास था कि यह व्यक्तित्व का एक संकट था-कमज़ोर बादशाह और निकम्मे कमानदार शक्तिशाली मुगल साम्राज्य के इस पतन के लिए ज़िम्मेदार थे। लेकिन टी. जी. पी. स्पियर (1973) जैसे दूसरे इतिहासकारों का कहना है कि अठारहवीं सदी के भारत में योग्य व्यक्तियों की कोई कमी नहीं थी। यह सचमुच ही सैयद भाइयों, निज़ामुल मुल्क, अब्दुस्समद खाँ, जकरिया खाँ, सआदत खाँ, सफ़दर जंग, मुर्शिद कुली खाँ या सवाई जय सिंह जैसे योग्य व्यक्तियों और सिपहसालारों की गतिविधियों का काल था। लेकिन दुर्भाग्य से ये सारे योग्य राजनयिक स्वार्थ-सिद्धि में लिप्त रहे और साम्राज्य के भाग्य की चिंता उन्हें कम रही। इस कारण संकट के कालों में वे नेतृत्व प्रदान नहीं कर सके, बल्कि पतन की प्रक्रिया में उन्होंने सीधे-सीधे योगदान ही किया। लेकिन इसे व्यक्तिगत असफलता मानने की कोई ज़रूरत नहीं, क्योंकि मुगल संस्थाओं की वे अंदरुनी कमज़ोरियाँ इसके लिए कहीं अधिक ज़िम्मेदार थीं, जो सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में धीरे-धीरे बढ़ी थीं।

मुगल साम्राज्य को बुनियादी तौर पर एक "सैनिक राज्य" कहा गया है।[1] उसने एक केंद्रीकृत प्रशासन-व्यवस्था के विकास की कोशिश की, जिसकी जीवन-शक्ति वस्तुत: उसकी सैन्य-शक्ति पर निर्भर थी। इस प्रशासनिक ढाँचे के शिखर पर था (मुगल) बादशाह, जिसकी सत्ता मुख्यत: उसके सैन्यबल पर निर्भर थी। इस ढाँचे में उससे नीचे सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व था सैनिक कुलीनवर्ग। सोलहवीं सदी के अंतिम भाग में अकबर ने इस कुलीनवर्ग को अपनी **मनसबदारी** व्यवस्था के माध्यम से संगठित किया था, जिसका मतलब इसमें कुलीनों का एक सैन्य संगठन था, जो बादशाह के प्रति निजी वफ़ादारी पर मूलत: टिका हुआ था। हर कुलीन को **मनसबदार** कहा जाता था और उसका एक दोहरा मनसब होता था-**जात** मनसब और **सवार** मनसब। जात मनसब का अर्थ उसका निजी मनसब था और सवार मनसब का अर्थ यह था कि उसे कितने घुड़सवार रखने थे। यह दोहरा मनसब यह भी बताता था कि

समूची मुगल नौकरशाही में किसी विशेष कुलीन की क्या स्थिति थी। कभी-कभी उन्हें नकदी वेतन दिया जाता था (ये **नकदी** मनसबदार होते थे), लेकिन अधिकांशतः उनको भुगतान जागीर के रूप में किया जाता था, जिसकी अनुमानित **जमा** (राजस्व आय) उनके निजी वेतन के अलावा उनके सिपाहियों और घोड़ों के रख-रखाव पर खर्च होती थी। जागीरें दो प्रकार की थीं–हस्तांतरणीय यानी **तनखा** जागीर और अहस्तांतरणीय यानी **वतन** जागीर। अधिकांश जागीरें हस्तांतरणीय थीं। अहस्तांतरणीय जागीरें स्थानीय स्तर पर शक्तिशाली राजाओं और ज़मींदारों के स्वतंत्र क्षेत्रों को उनकी वतन जागीरें करार देकर उनको मुगल व्यवस्था में खपाने का उपाय मात्र थीं।

मनसबदारों की नियुक्ति, तरक्की और सेवा से निष्कासन और उनको जागीरों का आवंटन या उसका हस्तांतरण केवल बादशाह द्वारा किया जाता था और इस कारण कुलीनवर्ग के सदस्यों की सिर्फ़ बादशाह के प्रति निजी वफ़ादारी होती थी। मुगलकालीन भारत में राष्ट्रीय, उपजातीय या धार्मिक, किसी प्रकार की निर्वैयक्तिक निष्ठा विकसित नहीं हुई और इसलिए पूरा साम्राज्यिक तंत्र बादशाह और शासक वर्ग के बीच मौजूद "संरक्षक-संरक्षित संबंध" पर टिका रहा।[2] इस संबंध की प्रभाविता और स्थिरता बादशाह के व्यक्तिगत गुणों पर और संसाधनों के निरंतर विस्तार पर निर्भर होती थीं, और यह बात मुगलकालीन भारत में नए-नए क्षेत्रों पर अधिकार करने के लिए मुगल सेना के निरंतर युद्धरत रहने की स्थिति की व्याख्या करती है। लेकिन औरंगज़ेब के शासनकाल के अंतिम वर्षों के बाद कोई विजय-अभियान नहीं चलाया गया और माना जाता है कि इसके बाद का काल साम्राज्य के संसाधनों के निरंतर संकुचन का काल था। जैसा कि कुछ इतिहासकारों का तर्क है, साम्राज्यिक प्रशासन की दक्षता बादशाह और कुलीनों के जिस कार्यात्मक संबंध पर टिकी हुई थी, उसे इसी बात ने तोड़ा।

कुलीनों की निष्ठा में कमी ने किस तरह मुगल साम्राज्य को प्रभावित किया, इसे समझने के लिए इस शासक वर्ग की संरचना को गहराई से देखने की ज़रूरत है। मनसबदार-पद पर नियुक्ति जैसी बातों के लिए निर्णायक तत्त्व वंश या नस्ली पृष्ठभूमि होती थी। मुगल कुलीनों का एक बहुत बड़ा हिस्सा बाहरी लोगों का था, जो मध्य एशिया के विभिन्न भागों से आए थे। लेकिन धीरे-धीरे उनका भारतीयकरण होता गया, हालाँकि यह भारतीयकरण साम्राज्य की किसी सुसंगत नीति के बिना ही हुआ। इसलिए कुलीनवर्ग विभिन्न नस्ली-धार्मिक समूहों में विभाजित रहा, और उनमें तूरानी और ईरानी समूह सबसे महत्त्वपूर्ण थे। जो लोग मध्य एशिया के तुर्की-भाषी क्षेत्रों से आए थे, वे तूरानी कहलाते थे, जबकि आज के ईरान, अफ़गानिस्तान और इराक के फ़ारसी-भाषी क्षेत्रों से आने वालों को ईरानी कहा जाता था। तूरानी सुन्नी और ईरानी शिया मुसलमान थे, और इस कारण उनकी आपसी दुश्मनी और जलन को

एक धार्मिक रंग मिल गया। हालाँकि मुगलों का संबंध एक तूरानी नस्ल से था, पर उन्होंने तूरानियों के प्रति कोई निजी तरफ़दारी नहीं दिखाई। कुलीनों में दूसरे समूह थे अफ़गान, शेखज़ादे अर्थात् भारतीय मुसलमान, और हिंदू। हिंदुओं में मुख्यतः राजपूत और मराठे थे, जिनको साम्राज्य की विशिष्ट राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण कुलीनवर्ग में शामिल किया गया था। दो दकनी राज्यों बीजापुर और गोलकुंडा पर औरंगज़ेब की विजय (क्रमशः 1685 और 1689 में) के बाद जो कुलीन इन राज्यों की सेवा में थे, उनको मुगल कुलीनवर्ग में शामिल कर लिया गया और फिर उनका समूह दकनी समूह कहलाया। मराठा और दकनी कुलीनों के शामिल किए जाने के कारण मुख्यतः औरंगज़ेब के अंतिम वर्षों में ही मुगल कुलीनवर्ग की संरचना में एक नाटकीय परिवर्तन आया, जिसने उसके अंदर के प्रच्छन्न अंतर्विरोधों को उजागर कर दिया।[3]

इन कुलीनवर्गों की आपसी शत्रुता और प्रतिस्पर्धा, जैसा कि कुछ इतिहासकारों का तर्क है, अठारहवीं सदी के एक आर्थिक संकट के कारण चरम बिंदु पर जा पहुँचीं। मालगुज़ारी से प्राप्त मुगल साम्राज्य की कोई अस्सी प्रतिशत आय मनसबदारों के नियंत्रण में थी, पर इस आय का वितरण बहुत ही असमान था। सत्रहवीं सदी के मध्य में कोई 8,000 मनसबदारों में से केवल 445 मनसबदार ही साम्राज्य की 61 प्रतिशत राजस्व-आय पर काबिज़ थे।[4] इस कारण कुलीनवर्ग के अंदर स्वाभाविक रूप से ईर्ष्या और तनाव पैदा हुए, खासकर तब जबकि साम्राज्य के संसाधन बढ़ नहीं रहे थे, बल्कि कम ही हो रहे थे। सतीशचंद्र ने इस आर्थिक स्थिति का, जिसे अठारहवीं सदी का "जागीरदारी संकट" कहा गया है, निरूपण निम्नलिखित शब्दों में किया है: "उपलब्ध सामाजिक अधिशेष (surplus) प्रशासन की लागत उठाने के लिए, हर एक प्रकार के युद्ध का खर्च उठाने के लिए और शासक वर्ग को उसकी अपेक्षाओं के अनुसार एक जीवन-स्तर प्रदान करने के लिए अपर्याप्त था।"[5] इसका कारण था ऐसे समय में मनसबदारों की संख्या में असाधारण वृद्धि, जब जागीर के रूप में दिया जाने वाला क्षेत्र (या **पायबाकी**) बढ़ नहीं रहा था, बल्कि घटता जा रहा था। राजस्व की उगाही अनुमानित आय से बहुत कम थी, खासकर दक्षिण में, और इसके कारण उपद्रव वाले क्षेत्रों में जागीरदारी की वास्तविक आय कम हुई। हालत इसलिए और भी बदतर हो गई कि सत्रहवीं सदी के अंतिम वर्षों से ही कीमतें लगातार चढ़ने लगी थीं, क्योंकि विलासिता की वस्तुएँ यूरोपीय बाज़ारों की ओर जा रही थीं और मुगल कुलीनवर्ग की परेशानी इस कारण और बढ़ रही थी।[6] अब चूँकि बहुत ही अधिक मनसबदार बहुत थोड़ी-सी जागीरों के लिए मुकाबला कर रहे थे, बहुतों को वर्षों तक बिना जागीर के रहना पड़ा। फिर जब जागीर उन्हें मिलती भी थी, तो इस बात की कोई गारंटी नहीं थी कि थोड़े ही अरसे में उसे हस्तांतरित नहीं कर दिया जाएगा।

इसलिए पूरा कुलीनवर्ग निजी असुरक्षा की एक गहरी भावना से ग्रस्त था।

फिर भी, जागीर का यह संकट कोई नई संवृत्ति ('phenomenon) नहीं था, क्योंकि राजस्व की वसूली (यानी राजस्व की वास्तविक आय) और किसी विशेष जागीर की अनुमानित राजस्व-आय में हमेशा अंतर रहे थे। यह संकट औरंगज़ेब के शासन के अंतिम वर्षों में मुख्यत: दकनी युद्धों के कारण और गहराया। अब मनसबदारों की संख्या बढ़ चुकी थी और राजनीतिक उथल-पुथल ने राजस्व की वसूली को और मुश्किल बना दिया था। जे. एफ. रिचर्ड्स (1975) का तर्क है कि यह समस्या एक हद तक कृत्रिम थी और औरंगज़ेब की गलत नीतियों के कारण पैदा हुई, जो खालिसा (शाही ज़मीनों) के आकार को लगातार बड़ा करता जा रहा था। बीजापुर और गोलकुंडा की विजय के बाद राजस्व में 23 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। लेकिन इस अतिरिक्त आय को अपने मनसबदारों में बाँटने की बजाय औरंगज़ेब अपने दकन-अभियान में इन संसाधनों का उपयोग करना चाहता था। इसलिए नए-नए जीते गए क्षेत्रों को खालिसा में शामिल कर लिया गया तथा उनकी राजस्व-आय दक्षिण में युद्धरत सैनिकों को वेतन देने के लिए सीधे शाही खज़ाने में जाने लगी। जागीरदारी के संकट को हल करने का एक अवसर इस तरह जाता रहा और इसीलिए रिचर्ड्स मानते हैं कि यह संकट कृत्रिम था और संसाधनों की किसी वास्तविक दुर्लभता का नतीजा नहीं था। फिर भी, उन्होंने दिखाया है कि दकन में राजस्व की वसूली धीरे-धीरे कम हो रही थी, जबकि सतीशचंद्र का तर्क है कि दकन हमेशा एक घाटे वाला क्षेत्र रहा। इसलिए निर्णायक रूप से इस बारे में कुछ कह सकना कठिन है कि बीजापुर और गोलकुंडा की विजय जागीर संकट को वास्तव में कैसे हल करती।

लेकिन कृत्रिम हो या वास्तविक, माना यही जाता है कि जागीरदारी संकट ने कुलीनों के बीच उम्दा जागीरों पर कब्जे के लिए एक अस्वस्थ प्रतियोगिता का आरंभ किया। मुगल दरबार में गुटबंदी की राजनीति आए दिन की बात हो गई; हर गुट अच्छी जागीरें पाने के लिए बादशाह को अपने प्रभाव में लाने की कोशिश करने लगा। 1712 में बहादुरशाह की मृत्यु के बाद समस्या ने संकट का रूप ले लिया, क्योंकि राजस्व की वसूली अधिकाधिक कठिन होती गई और इस कारण कम मनसब वाले अधिकारियों के लिए, जो कुछ उन्हें अपनी जागीरों से मिलता था, उसके बल पर अपने जीवन-स्तर को बनाए रखना सचमुच मुश्किल हो गया। यह समस्या जहाँदारशाह (1712-13) और फ़र्रुखसियर (1713-19) के शासनकालों में और गहराई। यह मुहम्मदशाह के शासनकाल (1719-48) में भी नहीं सुधरी, जब राजनीतिक कारणों से मनसबदारी के ओहदे दोनों हाथों से बाँटे जाने लगे, जिसके कारण कुलीनों की संख्या और बढ़ी। उनकी बढ़ती माँगों को पूरा करने के लिए खालिसा ज़मीनों के कुछ भागों को जागीरों में बदल दिया गया। इस कदम से मनसबदारों की समस्याएँ पूरी तरह

हल नहीं हुई, पर बादशाह पर गरीबी अवश्य आ गई। वज़ीर (प्रधानमंत्री) बनने के बाद निज़ामुल मुल्क ने भूमि के पुनर्वितरण के द्वारा समस्या को हल करने की कोशिश की, किंतु दरबार के अंदर से भारी विरोध के कारण वह इसे पूरी तरह लागू नहीं कर सका।[7]

उन दिनों शाही दरबार में जोड़-तोड़ अपनी चरम सीमा पर था। और आम शब्दों में कहें तो मुगल कुलीनवर्ग तीन परस्परविरोधी तबकों में विभक्त था: असद खाँ और उसके बेटे जुल्फ़िकार खाँ के नेतृत्व वाला ईरानी गुट; गाज़िउद्दीन खाँ, फ़ीरोज़ जंग और उसके बेटे चिन कुलिच खाँ (निज़ामुल मुल्क) के नेतृत्व वाला तूरानी गुट; और सैयद भाइयों, खाने-दौराँ, कुछ अफ़गान नेताओं और कुछ हिंदुओं के नेतृत्व वाला हिंदुस्तानी गुट। ये गुट नस्ल या धर्म पर आधारित न होकर पारिवारिक संबंधों, निजी दोस्ती और सबसे बढ़कर साझे स्वार्थों पर अधिक आधारित थे। गुटों की यह लड़ाई न कभी शाही दरबारों से बाहर गई, न हिंसक टकरावों में बदली। तैमूरियों के शासन करने के दैवी अधिकार को किसी ने चुनौती नहीं दी। लेकिन संरक्षण के वितरण को नियंत्रित करने के लिए हर गुट बादशाहों को अपने प्रभाव में लेने के प्रयास करता रहा। सत्ता के केंद्र से किसी विशेष गुट की निकटता स्वाभाविक रूप से दूसरे गुटों को उससे विमुख करती थी और इसके कारण बादशाह और उसके कुलीनों के वफ़ादारी वाले निजी संबंध धीरे-धीरे प्रभावित हुए, क्योंकि असंतुष्ट गुटों को साम्राज्य के हितों का ध्यान रखने का कोई कारण दिखाई नहीं देता था। फिर इससे भी बदतर बात यह हुई कि इसके कारण सेना में भ्रष्टाचार फैला। अब कोई मनसबदार अपेक्षित संख्या में सिपाही और घोड़े नहीं रख रहा था, और न ही इसके प्रशासनिक निगरानी की कोई कारगर व्यवस्था थी। सेना का यूँ कमज़ोर पड़ना साम्राज्य के लिए घातक था, क्योंकि साम्राज्य का स्थायित्व अंततः उसके सैन्यबल पर ही निर्भर था। मराठों के नेता शिवाजी ने सफलतापूर्वक दिखा दिया कि मुगलों की फ़ौज अब अजेय नहीं थी। चूँकि सेना में कोई नया प्रौद्योगिक तत्त्व या सांगठनिक प्रवर्तन-कार्य (innovation) सामने नहीं आया, इसलिए सेना का यह पतन और भी स्पष्ट होता गया। अब कुलीन अपने लिए स्वतंत्र या अर्द्ध-स्वतंत्र रजवाड़े खड़ी करने में अधिक दिलचस्पी लेने लगे, जिसके कारण साम्राज्य एक तरह से विखंडित होकर रह गया।

सत्रहवीं सदी के अंतिम तथा अठारहवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में बार-बार फूट पड़ने वाले किसान विद्रोहों को भी मुगल साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण माना जाता है और शासक कुलीनवर्ग के संकट का इससे कुछ संबंध रहा होगा, यह भी मुमकिन नहीं है। ऊपर से आरोपित एक साम्राज्य को और उसपर धीरे-धीरे बढ़ रहे आर्थिक दबावों को संभवतः ग्रामीण समाज ने कभी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया था, और एक केंद्रीय सत्ता के खिलाफ़ क्षेत्रीय भावनाएँ तो खैर थीं ही। इस कारण
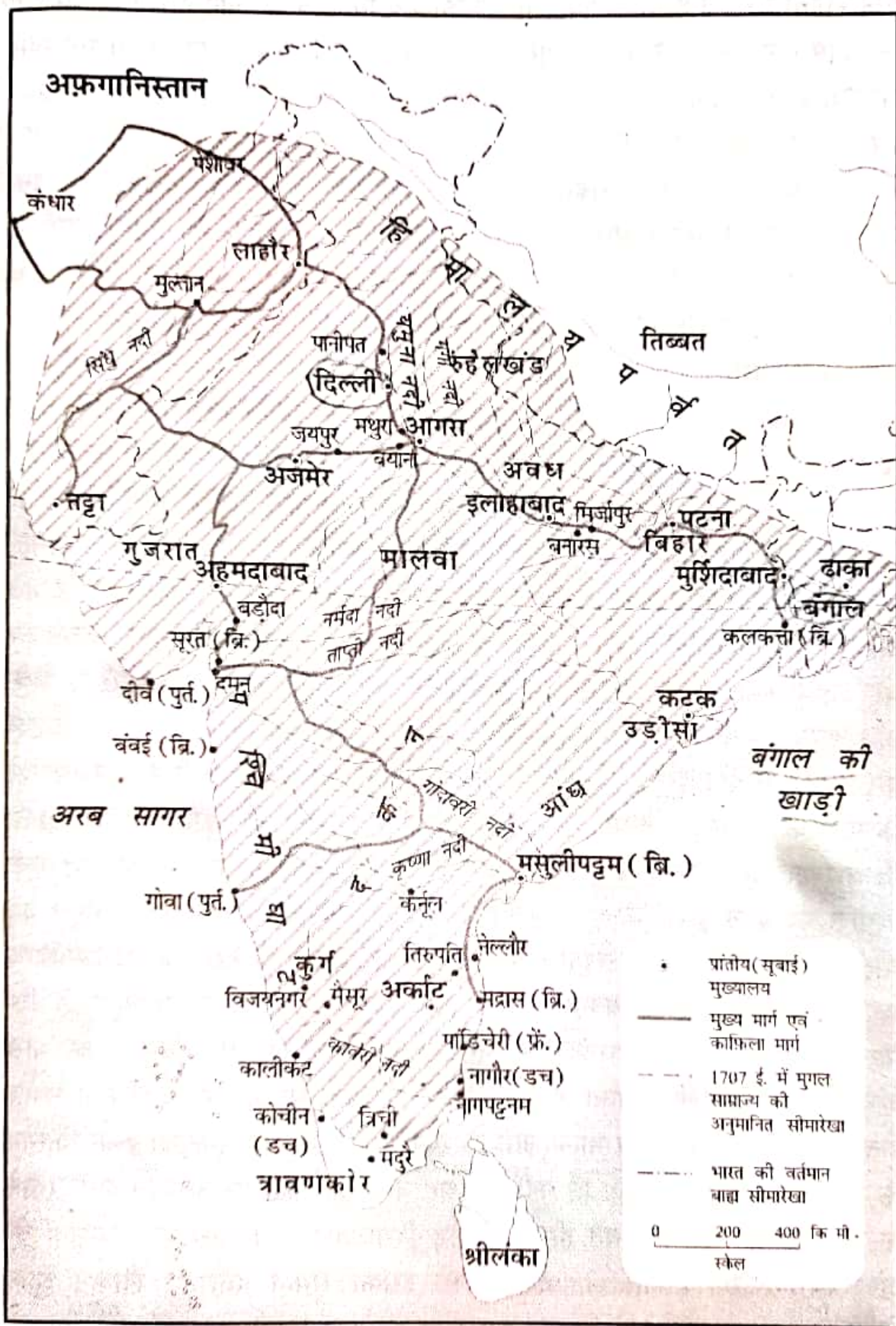
मानचित्र 1: मुगल साम्राज्य, 1707 में

मुगल साम्राज्य की स्थापना के आरंभ से ही किसानों का असंतोष उसके इतिहास का एक स्थायी तत्त्व बना रहा। लेकिन मुगलों का भय किसानों के लिए हमेशा हतोत्साहक का काम करता रहा और क्षेत्रीय असंतोष की समस्या को असाध्य बनने से रोकता रहा। सत्रहवीं सदी के अंतिम वर्षों और अठारहवीं सदी में जब केंद्रीय सत्ता की कमज़ोरियाँ स्पष्ट हो गईं और मुगल सेना को बार-बार मात खानी पड़ी, और साथ ही साथ जब मुगल शासकवर्ग का दमन बढ़ता गया, तब शाही सत्ता का प्रतिरोध व्यापक भी बना और अधिक दृढ़संकल्प भी। अधिकांश मिसालों में इन विद्रोहों का नेतृत्व असंतुष्ट स्थानीय ज़मींदारों ने किया और दमन के मारे किसानों ने उनका पूरा-पूरा साथ दिया। आखिरकार ज़मींदारों और किसानों का मिला-जुला दबाव इतना बढ़ जाता था कि मुगल सत्ता उसे झेल नहीं पाती थी।

इन विद्रोहों की अनेक प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। उन्हें एक अतिक्रामक केंद्रीय सत्ता के खिलाफ़ क्षेत्रीय और सामुदायिक पहचानों (identities) की राजनीतिक दावेदारी के रूप में पेश किया जा सकता है या औरंगज़ेब की धर्मांध नीतियों के खिलाफ़ प्रतिक्रियाओं के रूप में भी। बाद वाली व्याख्या अधिक असंभाव्य लगती है, क्योंकि अपने शासन के बाद वाले वर्षों में औरंगज़ेब विधर्मियों (हिंदुओं) के प्रति अधिक उदारता दिखाने लगा था, बल्कि वास्तव में ठंडे दिमाग से सोच-विचारकर वह अनेक स्थानीय हिंदू सरदारों को पटाने लगा था, ताकि उनकी वफ़ादारी पा सके और अपने शत्रुओं को अलग-थलग करके साम्राज्य की राजनीतिक समस्याओं को हल कर सके।[8] लेकिन दूसरी ओर, जैसा कि कुछ इतिहासकारों का तर्क है, इन विद्रोहों के पीछे का वास्तविक कारण मुगल साम्राज्य के संपत्ति के संबंधों में पाया जा सकता है। बादशाह अपने साम्राज्य की तमाम ज़मीनों का मालिक था या नहीं था, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। लेकिन मालगुज़ारी के रूप में ज़मीनों की जो आय वसूल की जाती थी, जिसकी राशि सुल्तानी काल में धीरे-धीरे बढ़ती ही गई, उस पर असंदिग्ध रूप से बादशाह का अधिकार था। इरफ़ान हबीब (1963) ने दिखाया है कि मालगुज़ारी की मुगल व्यवस्था एक समझौते पर टिकी हुई थी: किसान के पास जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त अनाज छोड़ दिया जाता था जबकि, जहाँ तक संभव होता था, अधिशेष को राज्य मालगुज़ारी के रूप में ले लेता था। मुगलकाल के किसान के पास अधिशेष कुछ रहता ही नहीं था, यह बात सही नहीं है; उत्पादन जारी रखने के लिए उसके पास निश्चित ही कुछ छोड़ दिया जाता था। साथ ही, किसानों के अंदर विभेदीकरण (differentiation) भी इसका संकेत देता है। लेकिन कुल मिलाकर देखें तो जहाँ बड़े किसान इस बोझ को सह सकते थे, वहीं छोटे किसान अधिकाधिक अपने को उत्पीड़ित समझने लगे।[9] आम तौर पर ज़ब्त वाले इलाकों में (जहाँ ज़मीनों का विस्तृत सर्वेक्षण कराया गया था), मालगुज़ारी की माँग उपज की

एक-तिहाई होती थी, लेकिन वास्तविक माँग अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग थी। कुछ क्षेत्रों में यह फ़सल का आधा थी और गुजरात जैसे उपजाऊ क्षेत्रों में तो तीन-चौथाई तक थी। उसका खालिसा ज़मीनों से वसूल किया गया एक भाग राजकोष में जाता था; जबकि एक बड़ा भाग (औरंगज़ेब के काल में 80%) जागीरदारों को मिलता था।

भूमि की आय पर एक दावा और भी होता था जो राज्य के दावे से कम और किसान के हिस्से से अधिक होता था, और यह दावा स्थानीय ज़मींदारों का होता था। इन ज़मींदारों में विभेदीकरण भी था।[10] राजस्थान के राजपूत सरदारों जैसे कुछ तो खासे बड़े राजा थे, जिनकी स्थानीय राजनीतिक शक्ति भी अच्छी खासी होती थी। एक स्थिर राशि (**पेशकश**) और बादशाह के प्रति वफ़ादारी की शर्त पर उनको मुगल नौकरशाही में शामिल कर लिया गया तथा उनके अपने **वतन** (क्षेत्र) पर उनकी स्वतंत्र सत्ता को मान्यता दे दी गई। सबसे नीचे **मालगुज़ार** या छोटे ज़मींदार थे, जिनका भूमि पर एक स्वतंत्र अधिकार होता था और अनेक मिसालों में तो किसानों से मालगुज़ारी उन्हीं के माध्यम से वसूला जाता था, जिसके बदले में वे **नानकार** यानी माफ़ी की (मालगुज़ारी मुक्त) ज़मीनें पाते थे। इन दो समूहों के बीच मध्यवर्ती ज़मींदार थे जो अपनी खुद की ज़मींदारियों से और दूसरे, मालगुज़ारी ज़मींदारों से भी मालगुज़ारी वसूल करते थे। ज़मींदारों के नीचे किसान थे और उनमें भी भेद थे: **खुदकाश्त** तो दखली अधिकारों (occupancy rights) वाले किसान थे, जबकि **पाहीकाश्त** घुमक्कड़ किसान होते थे। छोटे ज़मींदारों और किसानों के बीच जाति, वंश और धर्म पर आधारित गहरे सामुदायिक संबंध होते थे। यह अंतर्संबंध ज़मींदारों की शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था; उनमें से अनेक तो छोटी-छोटी सेनाओं और गढ़ियों (forts) के स्वामी थे। इसलिए उनके सक्रिय सहयोग के बिना अंदरूनी इलाकों में मुगल प्रशासन चल ही नहीं सकता था। अकबर ने इन ज़मींदारों को सहयोगी बनाने की कोशिश की थी, लेकिन औरंगज़ेब के अंतिम वर्षों से ही और खासकर उसकी मृत्यु के बाद (1707-08 में उत्तराधिकार के युद्ध के बाद) उत्पीड़ित ज़मींदारों की वफ़ादारियाँ बेशक डगमगाने लगीं।[11] दकन में बहादुरशाह के शासन के अंतिम वर्षों में छोटे और मध्यवर्ती, दोनों प्रकार के ज़मींदार संकटग्रस्त किसानों के सक्रिय सहयोग से मुगल राजसत्ता के खिलाफ़ हो गए।[12]

जागीरदारों का बढ़ता दमन स्थानीय ज़मींदारों की खुली अवज्ञा का एक प्रमुख कारण हो सकता है। पिछले बादशाहों ने परिक्रमण (rotation) की व्यवस्था के द्वारा उनको नियंत्रण में रखने की राजनीतिक कोशिशें की थीं। इरफ़ान हबीब (1963) का तर्क है कि इस मुगल व्यवस्था के कारण और इसका फ़ायदा उठाकर जागीरदार किसानों को उत्पीड़ित करते थे। चूँकि अकसर उनका तबादला कर दिया जाता था,

इस कारण जागीर से उनका कोई लगाव या उसमें दीर्घकालिक रुचि नहीं होती थी, और अपने थोड़े समय की जागीरदारी के दौरान वे किसानों का कोई खयाल रखे बगैर यथासंभव उन्हें लूटने-खसोटने की कोशिश करते रहते थे। उनकी स्वाभाविक उत्पीड़क प्रवृत्तियाँ निरंतर शाही निगरानी के कारण ही एक सीमा में रहती थीं, पर अठारहवीं सदी में निगरानी की यह व्यवस्था पूरी तरह धराशायी हो गई। जो शक्तिशाली जागीरदार प्रतिरोध या तबादले का विरोध कर सकते थे, उन्होंने शक्ति के अपने स्थानीय आधार तैयार कर लिए और उसके सहारे यथासंभव लूटने-खसोटने के प्रयास करते रहे। गोलकुंडा पर अधिकार के बाद वहाँ यह प्रवृत्ति एकदम स्पष्ट थी।[13] आगे चलकर बहादुरशाह के शासन के अंतिम वर्षों में दकन के अनेक जागीरदारों ने मराठा सरदारों से समझौते किए और इस बंदोबस्त ने उनको किसानों से यथासंभव वसूल करने की छूट दे दी। कभी-कभी वे **आमिलों** (मालगुज़ारी वसूलने वाले अधिकारियों) से पेशगी रकम भी लेते थे, जो फिर किसानों से यथासंभव वसूली करते थे।[14] दूसरी ओर, जिन लोगों का जब-तब तबादला होता रहता था, उनको स्थानीय परिस्थितियाँ इतनी उथल-पुथल वाली लगती थीं कि मालगुज़ारी वसूल नहीं की जा सकती थी। इस समस्या को हल करने और एक छोटी-सी अवधि में अधिकतम लाभ पाने के लिए उन्होंने **इजारादारी** व्यवस्था विकसित की, जिसके ज़रिये मालगुज़ारी की वसूली का अधिकार सबसे ऊँची बोली लगानेवाले को दे दिया जाता था। इजारादार की माँग अकसर मालगुज़ारी की वास्तविक माँग से बहुत अधिक होती थी, और इसके दबाव अकसर नीचे छोटे ज़मींदारों और किसानों पर आ जाते थे। फ़र्रुखसियर के शासन काल में खालिसा की ज़मीनें भी इजारादारों को दी जाने लगी थीं।

माना जाता है कि इस तरह मुगलों की यह समझौता नीति पूरी तरह टूट गई और छोटे ज़मींदार अधिशेष में अपने खुद के हिस्से के लिए मुगल प्रशासन का विरोध करने लगे। दकन जैसे बाहरी और अधिक उथल-पुथल वाले इलाकों में ज़मींदारों की अवज्ञा आए दिन की बात हो गई। अठारहवीं सदी में मुगलकालीन उत्तर भारत के केंद्र तक में ज़मींदारों में केंद्रीय सत्ता की अवज्ञा की, मालगुज़ारी का भुगतान रोकने की और मुगल सत्ता अगर उसे बलपूर्वक वसूल करने की कोशिश करती तो उसका प्रतिरोध करने की एक व्यापक प्रवृत्ति थी।[15] किसानों से अपने सामुदायिक संबंधों के कारण वे लोग मुगल सत्ता के खिलाफ़ किसानों को आसानी से लामबंद कर सकते थे। किसानों के लिए भी ज़मींदारों की यह पहल नेतृत्व की समस्या हल कर देती थी, क्योंकि एक केंद्रीय सत्ता को अपने बल पर चुनौती देना और अपने संघर्ष को बहुत लंबे समय तक जारी रखना अकसर उन्हें मुश्किल दिखाई देता था। इसलिए परवर्ती मुगलकाल में किसानों की शिकायतें अकसर धार्मिक और क्षेत्रीय पहचानों के आधार पर सामने आती थीं। मराठा सरदारों ने किसानों की इन शिकायतों का लाभ

उठाया; उत्तर भारत में जाट किसानों को उनके ज़मींदारों ने लामबंद किया; पंजाब में सिख बगावत में उठ खड़े हुए और राजस्थान में राजपूत सरदारों ने अपनी वफ़ादारियाँ वापस ले लीं। इन सभी विद्रोहों के कारण साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्वतंत्र रजवाड़े कायम हुए और इस तरह मुगलों की सत्ता और भी कमज़ोर हुई। इस तरह अठारहवीं सदी में अनेक प्रकार के क्षेत्रीय रजवाड़े पैदा हुए, जिनमें से कुछ ने "राज्य-निर्माण की पुरानी स्थानीय या क्षेत्रीय परंपरा(ओं)" को अपना आधार बनाया, तो कुछ ने अपने आधार के लिए अपनी नस्ली पहचान तथा उससे जुड़ी "'समुदाय' की अवधारणाओं" पर ध्यान केंद्रित किया।[16] इस सदी के अंत तक मुगल बादशाह की कारगर हुकूमत राजधानी दिल्ली के आसपास के एक छोटे-से भाग तक सिमटकर रह गई। अंग्रेज़ों ने 1858 में जब अंतिम बादशाह बहादुरशाह द्वितीय को तख्त से बेदखल किया, तो सिर्फ़ इससे बादशाही का भ्रममात्र ही टूटा।

फिर भी, कुछ इतिहासकार निर्धनता और आर्थिक दबाव को इन विद्रोहों की और अंततः मुगल साम्राज्य के पतन की पर्याप्त व्याख्या नहीं मानते, क्योंकि स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं के बीच महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय अंतर थे। इसलिए हाल का "संशोधनवादी" इतिहास-लेखन चाहता है कि हम इस केंद्रवादी दृष्टि से दामन छुड़ाकर एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में, परिधि के परिप्रेक्ष्य में, स्थिति को देखें। इस नए इतिहास-लेखन के अनुसार मुगलों का पतन नए समूहों के ऊपर उठकर आर्थिक और राजनीतिक शक्ति पाने का तथा उनको नियंत्रित करने में एक दूर स्थित और कमज़ोर पड़ चुके केंद्र की असमर्थता का परिणाम था। मुगल साम्राज्य के पूरे इतिहास में पतन और संकट से अधिक समृद्धि और संवृद्धि के साक्ष्य मिलते हैं। इससे इनकार मुमकिन नहीं कि अठारहवीं सदी तक भी अतिरिक्त संसाधनों वाले क्षेत्र मौजूद थे, जैसे मुरादाबाद-बरेली, अवध और बनारस। लेकिन मुगल सत्ता स्थानीय ज़मींदारों के हाथों में जमा इस अधिशेष का और संसाधनों का अधिग्रहण नहीं कर सकी।[17] बंगाल अधिशेष वाला एक और क्षेत्र था। पूर्वी बंगाल में लगभग उन्हीं दिनों जंगलाती ज़मीन के बड़े-बड़े हिस्से साफ़ किए गए और इन नए क्षेत्रों के बाशिंदों ने अपने नवस्थापित खेतिहर समुदायों को सुस्पष्ट धार्मिक व राजनीतिक रुझान प्रदान किया, जबकि सूबाई अधिकारी इन खेतिहर बस्तियों के इर्द-गिर्द अपने लिए आसानी से राजस्व उगाही की नई इकाइयाँ बना सकते थे।[18] दूसरे शब्दों में, बढ़ते खेतिहर उत्पादन और अर्थव्यवस्था के मौद्रीकरण (monetisation) ने ज़मींदारों, किसानों और स्थानीय शक्तिशाली वंशों को और अधिक संसाधन उपलब्ध कराए, जिनको साम्राज्य के केंद्र के सापेक्ष सुस्पष्ट रूप से अधिक लाभकारी स्थिति और आत्मविश्वास की प्राप्ति हुई।[19] उनको कमज़ोर पड़ रहे केंद्रीय नियंत्रण का लाभ उठाकर अब मुगल साम्राज्य के सांस्कृतिक और वैचारिक ढाँचे को बनाए रखकर भी केंद्रीकृत साम्राज्यिक सत्ता से अपनी निष्ठा

तोड़ना और अपनी स्वतंत्रता का दावा करना अधिक सुविधाजनक लगा।

माना गया है कि मुगलकालीन भारत में शक्ति के ऐसे अपसार (diffusion) की संभावनाएँ हमेशा रहीं। ऐसे निगमबद्ध समूह (corporate groups) और सामाजिक वर्ग भी थे, जो एक तथाकथित अतिक्रामक केंद्रीय सत्ता के बावजूद विभिन्न प्रकार के अधिकारों से लैस थे, और सी. ए. बेइली के शब्दों में ये अधिकार उनकी "पोर्टफ़ोलियो पूँजी" थे, जिसका निवेश करके वे भारी मुनाफ़े कमा सकते थे।[20] इस विचार को मानने वाले इतिहासकार-संप्रदाय के अनुसार पूरे मुगल दौर में केंद्रीय सत्ता और क्षेत्रीय कुलीनों के बीच समझौते और तालमेल की एक प्रक्रिया निरंतर चलती रही। जैसा कि आंद्रे विंक ने कहा है, मुगलों की प्रभुसत्ता "निरंतर परिवर्तनशील शत्रुताओं और गठजोड़ों की एक संतुलनकारी व्यवस्था" पर टिकी हुई थी। मुगल व्यवस्था "फ़ित्ना" (राजद्रोह) को तरह देने के लिए तैयार थी और अपनी सार्वभौम अधिकार क्षेत्र की धारणा में, (देशी हों या विदेशी) ऊपर उठ रही स्थानीय शक्तियों को खपाने की हमेशा कोशिश करती रही। समझौते और बलप्रयोग के इसी तंत्र के कारगर क्रियान्वयन पर उसके जीवन का दारोमदार भी था।[21] दूसरे शब्दों में, मुगलों की केंद्रीकरण की प्रक्रिया में संगठन के परस्परविरोधी सिद्धांतों के जारी रहने के लिए पर्याप्त संभावना बची रहती थी। इस संदर्भ में फ्रैंक पर्लिन ने "श्रेणियों और तकनीकों के एक 'पुस्तकालय'" के अस्तित्व की बात कही है; पुस्तकालय से उसका अभिप्राय शासन की व्यवस्थाओं, मापन की विधियों तथा राजस्व-संग्रह की तकनीकों की बहुलता से था, जिनमें देश-काल के अनुसार व्यापक परिवर्तन आते रहते थे। अधिकारों की बहुलता भी थी, जैसे दकन में वतन की धारणा थी, जिसका मतलब विरासत में मिलनेवाले ऐसे अधिकार थे, जिनको बादशाह भी छीन नहीं सकता था। अठारहवीं सदी में केंद्रीकरण के प्रयास भी उन अधिकारों को समाप्त नहीं कर सके।[22] इसलिए जैसा कि मुज़फ़्फ़र आलम ने स्थिति को सूत्रवत पेश किया है, विकेंद्रीकरण और व्यवसायीकरण के चलते इन्हीं दिनों "नए नवाबों" के एक दल ने साम्राज्य के संसाधनों पर इस तरह अपना एकाधिकार कर लिया कि पुश्तैनी मुगल कुलीन अर्थात् खानज़ादे उनसे वंचित हो गए।[23] ये नए नवाब वे नए क्षेत्रीय सत्ताधिकारी थे, जिन्होंने सूबों में प्रमुखता प्राप्त की और मुगल साम्राज्य की केंद्रीकरण की प्रवृत्ति का सफलतापूर्वक मुकाबला किया। इस समूह में ऐसे जागीरदार थे, जिन्होंने तबादले की अवज्ञा की और इस तरह स्थानीय शासक बन बैठे, और इसमें इजारादार अर्थात् नए "राजस्व संबंधी उद्यमी" थे, जिन्होंने "नकदी और स्थानीय व्यापार के प्रबंध की विशेषज्ञता के साथ सैन्यबल का समन्वय" किया।[24] इस तरह निर्धनता और संकट की बजाय "सुसंगत आर्थिक संवृद्धि और समृद्धि ही स्थानीय राजनीतिक उथल-पुथल का संदर्भ" थीं।[25] दूसरे शब्दों में, मुगल साम्राज्य में शक्तिशाली क्षेत्रीय

राजनीतिक समूहों के उत्थान की संभावना हमेशा से थी तथा अठारहवीं सदी के महत्त्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों ने उस संभावना को और भी स्पष्टता के साथ उजागर किया। लेकिन वहीं इन नए विकासक्रमों को सही-सही समझा भी नहीं गया था, न व्यवस्था में खपाया गया था, और इसलिए ही अंततः उसका पतन हुआ।

इन 'परंपरागत' और 'संशोधनवादी' इतिहास-लेखनों के बीच एक सुविधाजनक मध्यक्षेत्र (middle ground)की तलाश कर सकना कठिन है; न ही इन दोनों में से किसी को रद्द कर सकना आसान है। संशोधनवादी इतिहास-लेखन की आलोचना उसके द्वारा मुगल साम्राज्य के सुगठित चरित्र को कम करके आँकने तथा केंद्रीकृत प्रभुसत्ता की समकालीन मुस्लिम धारणा को अनदेखा करने के कारण की गई है। दूसरी ओर, इन आलोचकों की आलोचना उनके एक ऐसी मानसिकता से चिपके रहने के कारण की गई है, जो मुगल साम्राज्य को केवल एक केंद्रीकृत ढाँचे के रूप में देखने की अभ्यस्त रही है।[26] संशोधनवादी इतिहास-लेखन (historiography) की समालोचना करते हुए जैसा कि अतहर अली ने माना है, अगर कोई साझी ज़मीन (या मध्यक्षेत्र) है तो यही आम मान्यता है कि ज़मींदार या मध्यवर्ती वर्ग मुगल ढाँचे में "एक अपकेंद्री शक्ति" थे।[27] फिर भी, निष्कर्षस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि भारतीय इतिहास की अठारहवीं सदी को समझने के लिए 'पतन' की अवधारणा संभवतः एक अपर्याप्त विचार है। मुगल व्यवस्था साम्राज्य के वास्तविक पतन के बाद भी बहुत समय तक जारी रही, जब अनेक क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हुआ। भारतीय इतिहास में अठारहवीं सदी कोई अंधकार का युग नहीं है, न ही कुल मिलाकर पतन का युग है। एक अखिल भारतीय साम्राज्य के पतन के बाद एक अन्य का उदय हुआ और बीच के काल में अनेक प्रकार के शक्तिशाली क्षेत्रीय राज्यों का वर्चस्व रहा। इस कारण, जैसा कि सतीशचंद्र (1991) का तर्क है, इस सदी को एक सुस्पष्ट कालगत समग्रता में समझा जाना चाहिए।

1.2 क्षेत्रीय शक्तियों का उदय

1761 तक मुगल साम्राज्य नाममात्र के लिए साम्राज्य रह गया था, क्योंकि उसकी कमज़ोरियों के कारण स्थानीय शक्तियों ने स्वाधीनता के दावे किए थे। फिर भी, प्रतीक रूप में मुगल बादशाह की सत्ता जारी रही, क्योंकि अभी भी उसे राजनीतिक वैधता का स्रोत माना जाता था। नए राज्यों ने सीधे उसकी सत्ता को चुनौती नहीं दी, और अपने शासन के औचित्य के लिए बराबर उसका अनुमोदन चाहते रहे। शासन के अनेक क्षेत्रों में इन राज्यों ने मुगल संस्थाओं और प्रशासनतंत्र को जारी रखा; परिवर्तन जहाँ आए–और निश्चित ही आए–वहाँ वे अपेक्षाकृत धीरे-धीरे, क्षेत्रों में शक्ति के बदले हुए संबंधों को खपाते हुए आए। इसलिए अठारहवीं सदी में इन राज्यों का उदय